परमकृपासिन्धु सुविहिताग्रणी सुविशालगच्छाधिप।

सिद्धान्तमहोदधि

पूज्यपाद आचार्यभगवन्त श्रीमद्

विजयप्रेमसूरीश्वरजी महाराजा

के

पवित्र करकमलों

मे

इस ग्रंथरत्न को विनम्रभाव से

सादर समर्पण करता हूं।

शंकरलाल मुणोत

प्रथम संस्करण — १०००

[illegible]

[illegible] द्वारा इस पर [illegible] किया गया है, इससे सिद्ध होता है कि यह महाशास्त्र पूर्ववर्ती आचार्य का है, यह प्राचीन काल [illegible] अंग 'दृष्टिवाद' के अन्तर्गत 'पूर्व' नामक आगम का [illegible] था, और इस शास्त्र की भाषा भी पूर्वधर की भाषा सी प्रतीत होती है, इसलिए यह एक पूर्वधर महर्षि की कृति रूप में श्रद्धेय है।

प्रस्तुत महाशास्त्र के पांचों सूत्रों के विषय इस प्रकार हैं—

(१) अनादिकाल से इस अपार संसार पारावार में कर्मसंयोग-वश चतुर्गति के भीतर भटकता हुआ पामर संसारी जीव, अगर तथा-भव्यत्व अर्थात् अपनी वैयक्तिक मोक्षयोग्यता पक हो जाए, तभी

उससे रहित की क्रिया कुलटानारी उपवासादि तुल्य क्रिया, लोकसंज्ञा एवं इन्द्रिय-अनुश्रोतगमन का त्याग, दम्भ का त्याग, फलतः असंक्लिष्ट संपत्ति, निरनुबन्ध अशुभ कर्म, सानुबन्ध क्रिया, समंतभद्रता, परार्थ साधकता, अनेक भविक आराधनावश चरम भव, सर्वकर्मक्षय-इत्यादि प्रतिपादित है।

(५) 'प्रव्रज्या-फल' नाम के पंचम सूत्र में मोक्ष का विशिष्ट स्वरुप वर्णित किया गया है। साथ साथ सायोगिक सुख की दुःखरूपता, असायोगिक सुख की बुद्धिगम्यता, मुक्त के कभी भी पुनः पतन का अभाव, दिदृक्षामत की नियुक्तिकता, अस्पृशद्गति से सिद्धशिलागमन, संसार का अविच्छेद, त्रिकोटिपरिशुद्ध जिनाज्ञा का योग्य को ही दान, इत्यादि का भी सुंदर प्रतिपादन है।

ऐसे महान प्रौढ शास्त्र पर आ. श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज ने संस्कृत भाषा में सुन्दर स्पष्ट सुबोध टीका यानी विवेचन लिखा है। कई स्थान पर मूल सूत्र में कही बात का समर्थन करने के लिए प्रबल युक्ति - उपपत्ति भी आपने सुन्दर दी है, और कईयों के रहस्यों का अनन्यलभ्य उद्घाटन किया है। साराश, अपने लेख से 'पंचसूत्र' की महाशास्त्रता का उत्तम आविर्भाव किया है।

यही सोचने योग्य है कि १४४४ शास्त्रों के प्रणेता, संस्कृत प्राकृत साहित्य के गगनमण्डल में मार्तण्ड सा साहित्य के विधाता, स्वपर दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान, अपूर्व ज्ञानगंगा के हिमाचल, निष्पक्ष समदर्शी आलोचक, साहित्य - तवारिख में सुवर्णाक्षरों से अङ्कित, महान शासनप्रभावक आचार्य भगवान श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज जैसे जिस पर विवेचनार्थ अपनी सूत्र-सी कलम उठावे, वह ग्रन्थ कितना उत्तम, उपयुक्त, एव अध्ययन-मनन-भावनार्ह होगा!

इसी प्रेरणा से यह हिन्दी प्रकाशन किया जाता है। ग्रन्थ का हिन्दी

॥ শুদ্ধি-পত্র ॥

পৃষ্ঠা	পংক্তি	অশুদ্ধ	শুদ্ধ
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३०	६	संपाउणे विभासा ।	सपाडणे विभासा ।
३६	२३	अवधीरणा करता	अवधीरणा यानी कमगि
३७	१०	होने से अथहेतु	होने से अर्थहेतु
,,	१२	हेय । उपादेय	हेय–उपादेय
,,	१६	मागगामी के	मार्गगामी के
४०	१०	॥७॥	।
४१	१४	आने पर भी	आने पर भी (१)...
,,	१६	होने से और	होने से और (४)....
४७	१८	परिनिर्माण	परिनिर्वाण
४६	१२	उत्कृष्टता के धारण	उत्कृष्टता के कारण
,,	१६	पर की अपेक्षा	पर की अपेक्षा में ...
५६	१६	निमित विकार	निर्मित विकार
६२	५	जो पुनर्बंधक	जो अपुनर्बंधक
,,	१६	उम ही का	उमी का

卐

मूल—एअस्स णं वुच्छित्ती सुद्धधम्माओ। सुद्धधम्मसंपत्ती पावकम्मविगमाओ। पावकम्मविगमो तहाभव्वत्ताइभावओ ॥३॥

मूल—तस्स पुण विवागसाहणाणि—(१) चउसरणगमणं (२) दुक्कडगरिहा (३) सुकडाण(णा ऽऽ)सेवणं ॥४॥

मूल—अओ कायव्वमिणं होउकामेणं सया सुप्पणिहाणं भुज्जो भुज्जो संकिलेसे, तिकालमसंकिलेसे ॥५॥

मूल—तहा पसंतगंभीरासया, सावज्जजोगविरया, पंचविहायारजाणगा, परोवयारनिरया, पउमाइनिदंसणा, झाणज्झयणसंगया, विसुज्झमाणभावा साहू सरणं ॥८॥

मूल—तहा सुरासुरमणुअपूइओ, मोहतिमिरंसुमाली, रागद्दोसविसपरममंतो, हेऊ सयलकल्लाणाणं, कम्मवणविहावसू, साहगो सिद्धभावस्स, केवलिपण्णत्तो धम्मो, जावज्जीवं मे भगवं सरणं ॥९॥

कृतकृत्य हो चुके हैं—जिन्हें कुछ भी करना शेष नहीं रहा है, ऐसे सिद्ध भगवान मेरे लिए शरण हैं आप ही मेरे आधार हैं ॥७॥

अर्थ—तथा अत्यन्त शांत और गम्भीर आशय (चित्त व्यापार) वाले, पापयुक्त मानसिक, वाचिक एवं कायिक प्रवृत्ति के त्यागी पाँच प्रकार के आचार (ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार) के ज्ञाता, धर्मदेशना-धर्मप्रचार-धर्मदान द्वारा परोपकार में निरत, कमल आदि की उपमाओं से उपमित एवं ध्यान एवं स्वाध्याय में लीन तथा समिति गुप्ति आदि शास्त्र विहित अनुष्ठानों द्वारा आत्म परिणामों की उत्तरोत्तर विशुद्धि करने वाले साधु भगवान मेरे लिए शरण हैं मैं आपकी शरण में हूँ ॥८॥

मूल—तहा पसंतगंभीरासया, सावज्जजोगविरया, पंचविहायारजाणगा, परोवयारनिरया, पउमाइनिदंसणा, झाणज्झयणसंगया, विसुज्झमाणभावा साहू सरणं ॥८॥

मूल—तहा सुरासुरमणुअपूइओ, मोहतिमिरंसुमाली, रागदोसविसपरममंतो, हेऊ सयलकल्लाणाणं, कम्मवणविहावसू, साहगो सिद्धभावस्स, केवलिपण्णत्तो धम्मो, जावज्जीवं मे भगवं सरणं ॥९॥

कृतकृत्य हो चुके हैं—जिन्हें कुछ भी करना शेष नहीं रहा है, ऐसे सिद्ध भगवान् मेरे लिए शरण हैं आप ही मेरे आधार हैं ॥७॥

अर्थ—तथा अत्यन्त शांत और गम्भीर आशय (चित्त व्यापार) वाले, पापयुक्त मानसिक, वाचिक एवं कायिक प्रवृत्ति के त्यागी, पाँच प्रकार के आचार (ज्ञानाचार, दर्शनाचार चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार) के ज्ञाता, धर्मदेशना - धर्मसम्पादन - धर्मरक्षण द्वारा परोपकार में निरत, कमल आदि की उपमाओं से उपमित, प्रशस्त ध्यान एवं स्वाध्याय में लीन तथा समिति-गुप्ति आदि शास्त्रविहित अनुष्ठानों द्वारा आत्म परिणामों की उत्तरोत्तर विशुद्धि करने वाले साधु भगवान मेरे लिए शरण हैं मैं आपके शरण में हूँ ॥८॥

अर्थ—तथा जो सुरों (ज्योतिष्क तथा वैमानिक देवों) और असुरों (भवनपति और व्यन्तर देवों) और विद्याधर आदि मनुष्यों द्वारा पूजित हैं, जो मोह रूपी अन्धकार को हटाने के लिए सूर्य के समान हैं, राग द्वेष रूपी विष को नष्ट करने के लिए उत्तम मन्त्र के समान हैं, समस्त कल्याणों का एकमात्र कारण हैं, कर्म रूपी वन

मूल—होउ मे एसा सम्मं गरिहा । होउ मे अकरणनियमो । बहुमयं ममेअंति इच्छामि अणुसट्ठिं अरहंताणं भगवंताणं गुरूणं कल्लाणमित्ताणंति ॥११॥

अब तक अरहन्त देवों, सिद्ध भगवन्तों, आचार्य, उपाध्याय, साधु, साध्वी तथा अन्य माननीय, पूजनीय (साधर्मिक आदि) धर्मपात्रों के प्रति तथा अनेक जन्मों के माता-पिताओं, बन्धुओं, (सगे-सम्बन्धियों) मित्रों उपकारियों के प्रति तथा मोक्षमार्ग में स्थित या कुमार्ग में स्थित सभी जीवों के प्रति ज्ञान-दर्शन चरित्र का मोक्ष मार्ग में साधनभूत (उपकारक) जिनबिंब पुस्तक रजोहरणादि के प्रति या मोक्षमार्ग में असाधनभूत (अनुपकारक) वस्तुओं के प्रति मैंने जो भी न करने योग्य, अवाञ्छनीय, पाप रूप एवं पाप की परम्परा का जनक अनुचित आचरण किया हो, चाहे वह सूक्ष्म (अल्प) हो या स्थूल (बहुत) हो, मन से या वचन से या काया से स्वयं किया हो या दूसरे से करवाया हो या करने का अनुमोदन किया हो, राग से द्वेष से या मोह से प्रेरित होकर, इस जन्म में या दूसरे जन्मों में किया हो, वह सब अब मेरे लिए गर्हणीय निन्दनीय है, दुष्कृत-अधर्म रूप है, त्याज्य है, ऐसा मैंने कल्याण मित्र (मेरी आत्मा का कल्याण चाहने वाले—आत्म कल्याण में प्रवृत्त करने वाले) गुरु भगवन्तों के वचन से जाना है और 'आपका वचन सत्य है' इस प्रकार से वे वचन मुझे श्रद्धापूर्वक रुचिकर भी हुए हैं। अतएव मैं अरिहन्त और सिद्ध भगवन्तों के सामने अपने उस पापाचार की गर्हा करता हूँ, वह दुष्कृत-अधर्मरूप होने से उसकी निन्दा करता हूँ, और उसका त्याग करता हूं। अतएव मेरा वह पाप मिथ्या हो, मेरा वह पाप मिथ्या हो, मेरा वह पाप मिथ्या हो ॥१०॥

अर्थ—मेरी यह दुष्कृत गर्हा सच्ची हो हार्दिक हो। आगे

मूल—सव्वेसिं सावगाणं मुक्खसाहणजोगे, सव्वेसिं देवाणं सव्वेसिं जीवाणं होउकामाणं कल्लाणासयाणं मग्गसाहणजोगे ॥१४॥

मूल—होउ मे एसा अणुमोअणा सम्मं विहिपुव्विआ, सम्मं सुद्धासया, सम्मं पडिवत्तिरूवा, सम्मं निरइयारा, परमगुणजुत्तअरहंताइसामत्थाओ। अचिंतसत्तिजुत्ता हि ते भगवंतो वीअरागा सव्वण्णू परमकल्लाणा परमकल्लाणहेऊ सत्ताणं ॥१५॥

सुकृत का सेवन करता हूं। समस्त अरहन्त भगवन्तो के लोकोत्तर धर्मदेशना आदि अनुष्ठानो की अनुमोदना करता हूं। समस्तसिद्ध भगवन्तो के सिद्धभाव अव्याबाधस्थिति, अनन्तअक्षयसुख स्फटिक के सदृश निष्कलंक शुद्ध आत्मस्वरूप आदि की अनुमोदना करता हूँ। समस्त आचार्यों के पांच आचारों की अनुमोदना करता हूं। समस्त उपाध्यायों के सूत्रप्रदान की अनुमोदना करता हूँ। समस्त साधुओं की अहिंसा, संयम, तप, ध्यान, अध्ययन आदि-आदि शुभ क्रियाओं की अनुमोदना करता हूँ ॥१३॥

अर्थ—समस्त श्रावकों के देवभक्ति, गुरुभक्ति, धर्मराग, दान शील, नियम आदि मोक्ष के साधनभूत व्यापारों की अनुमोदना करता हूँ। आसन्नभव्य अत्यन्त विशुद्ध आशयवाले समस्त इन्द्रादि देवों के और समस्त जीवों के मोक्ष मार्ग के साधनयोगों की (मार्गानुसारिता आदि शुभ व्यापारों की) अनुमोदना करता हूँ ॥१४॥

अर्थ—लोकोत्तर गुणों से विभूषित श्रीअरहन्त सिद्ध भगवान् आदि के अर्थात् इनके सामर्थ्य के प्रभाव से मेरी यह पूर्वोक्त अनुमोदना आगमा-

मूल—एवमेअं सम्मं पढमाणस्स सुणमाणस्स अणुप्पेह-माणस्स सिढिलीभवंति परिहायंति खिज्जंति असुहकम्माणुबन्धा। निरणुबंधे वाऽसुहकम्मे भग्गसामत्थे सुहपरिणामेणं, कडगबद्धे विअ विसे, अप्पफले सिआ, सुहावणिज्जे सिया, अपुणभावे सिआ।

तहा आसगलिज्जंति परिपोसिज्जंति निम्मविज्जंति सुहकम्माणुबंधा। साणुबंधं च सुहकम्मं पगिट्ठं पगिट्ठभावज्जिअं नियमफलयं सुपउत्ते विअ महागए सुहफले सिआ, सुहपवत्तगे सिआ, परमसुहसाहगे सिआ।

अओ अपडिबंधमेअं असुहभावनिरोहेणं सुहभावबीअंति सुप्पणिहाणं सम्मं पढिअव्वं, सम्मं सोअव्वं, सम्मं अणुप्पेहिअव्वंति ॥१७॥

[तीन बार सुकृत की अभिलाषा करने का कथन सुकृत करने की अति उत्कट अभिलाषा को भी प्रकट करता है] ॥१६॥

अर्थ—हृदय में संवेगभाव धारण करके जो मनुष्य स्वयं सम्यक् प्रकार से इस सूत्र को पढ़ता है, या दूसरों से सुनता है और फिर इसके अर्थ का चिन्तन करता है, उसके पूर्वबद्ध अशुभकर्मों का रस मन्द हो जाता है, उन कर्मों की स्थिति और दलिकों में कमी हो जाती है और विशेष अध्यवसाय उत्पन्न होने से अशुभ कर्म का अनुबंध (वासना शक्ति) समूल नष्ट भी हो जाता है। इस प्रकार इस सूत्र के अध्ययन चिन्तन से जो शुभ परिणाम उत्पन्न होता

[illegible]

[illegible] ॥२॥

[illegible] करना चाहिए।

भाव है, पर यह भी विचारना चाहिए कि धर्मगुणों का पालन करना कैसी खेल नहीं है उनका पालन करने में अनेक आन्तरिक अनेक कठिनाइयाँ आती हैं क्योंकि उनका निरन्तर अभ्यास नहीं है। उन गुणों व्रतों का स्वीकार करके भंग करना अत्यन्त भयंकर होता है। क्योंकि उससे जिनाज्ञा का भंग होता है और दुर्गति होती है। ऐसा करने से महामोह की उत्पत्ति होती है और हिंसा आदि अधर्म के अनुबन्ध की पुष्टि होने के कारण भवान्तर में उनकी प्राप्ति दुर्लभ होती है ॥१॥

अर्थ—इस प्रकार अपनी शक्ति से अन्यून अनधिक, शास्त्रोक्त विधि-पुरस्सर, एवं अत्यन्त प्रणिधान (कर्त्तव्यनिर्णय) के बल से समेत धर्मगुणों को अंगीकार करना चाहिए। वे धर्मगुण यह हैं—(१) स्थूल प्राणातिपात का त्याग, अर्थात् निरपराध त्रस जीव को जानबूझ कर हनने की बुद्धि से हनन न करना; (२) स्थूल मृषावाद का त्याग, कन्या-अलीक आदि झूठ न बोलना (३) स्थूल अदत्तादान का त्याग, अर्थात् चुगली-चोरी, झूठा नाप तोल, ताला तोड कर चोरी करना आदि राजदण्डनीय चोरी का त्याग, (४) स्थूल मैथुन का त्याग अर्थात् अपनी विवाहित स्त्री के सिवाय अन्य स्त्रियों के साथ सभोग न करना; और (५) स्थूलपरिग्रह विरमण अर्थात् धन-धान्य आदि की की हुई

मूल—परिहरिज्जा सम्मं लोगविरुद्धे, करुणापरे जणाणं, न खिंसाविज्ज धम्मं, संकिलेसो खु एसा परमअबोहिबीअं अबोहिफलमप्पणोत्ति ॥५॥

मूल—एवमालोएज्जा-न खलु इत्तो परो अणत्थे अंधत्तमेअं संसाराडवीए, जणगमणिट्ठावायाणं, अइदारुणं सरूवेणं, असुहाणुबंधमच्चत्थं ॥६॥

और अनादिकालीन भवभ्रमण में साथ लगे हुए अविरत दुर्गुणों का चिन्तन करना चाहिए। सोचना चाहिए कि अनादि [illegible] में अनुमति आदि द्वारा दुर्गुणों में अत्यन्त सहकारी है। लोक और परलोक के सत् पुरुषार्थों का वे नाश करते हैं और [illegible] की परम्परा का सर्जन करते हैं, अतएव उनका समूल [illegible] ही होने से योग्य है ॥४॥

[illegible]

मूल—तहा तेसु तेसु समायारेसु सइसमण्णागए सिआ, अमुगेऽहं, अमुगकुले, अमुगसिस्से, अमुगधम्मट्ठाणट्ठिए। न मे तव्विराहणा, न मे तदारंभो, वुड्ढी ममेअस्स, एअमित्थ सारं, एयमायभूयं, एअं हिअं, असारमण्णं सव्वं, विसेसओ अविहिगहणेणं।

एवमाह तिलोगबंधू, परमकारुणिगे, सम्मं संबुद्धे, भगवं अरहंतेत्ति, एवं समालोचिअ तदविरुद्धेसु समायारेसु सम्मं वट्टिज्जा, भावमंगलमेअं तन्निप्फत्तीए ॥११॥

अनुसार संसार का स्वरूप समझा कर उसे धर्म मार्ग में प्रवृत्त करे। परिवार के प्रति प्रतिफल की अपेक्षा न रखता हुआ अनुकंपाशील रहे और जल-कमल की भांति अन्त:करण से ममत्वरहित हो।

सभी जीव पृथक् पृथक् हैं सब की अलग-अलग अपनी सत्ता है, कोई किसी का नहीं है। ऐसी स्थिति में दूसरे जीवों पर ममत्व स्थापित करना उन्हें अपना मानना कर्मबन्ध का कारण है ॥१०॥

अर्थ—कुटुम्ब को संताप करने वाला नहीं वरन गुण करने वाला, अनुकम्पाशील किन्तु अन्तर से ममत्वहीन हो कर जो गृहस्थोचित व्यवहार करता है, उनसे व्यवहार करते समय भी ऐसा विचार करता रहे कि मैं अमुक हूँ, अमुक कुल का हूँ, अमुक का शिष्य हूं और धर्म की अमुक भूमिका पर स्थित हू। मैंने जो व्रत अंगीकार किये हैं, उनकी विराधना तो नहीं कर रहा हूँ? उसका (विराधना का) आरंभ तो नहीं हो रहा है? मेरे धर्मस्थान की वृद्धि हो रही है न? इस असार संसार में धर्म ही सार है, वही आत्मा की अपनी

मूल—धम्मो एअस्स ओसहं, एगंतविसुद्धो, महापुरिससेविओ, सव्वहिअकारी, निरइआरो, परमाणंदहेऊ ।

नमो इमस्स धम्मस्स । नमो एअधम्मपगासगाणं । नमो एअधम्मपालगाणं । नमो एअधम्मपरूवगाणं । नमो एअधम्मपवज्जगाणं ॥१३॥

मूल—इच्छामि अहमिणं धम्मं पडिवज्जित्तए सम्मं मणवयणकायजोगेहिं । होउ ममेअं कल्लाणं परमकल्लाणाणं जिणाणमणुभावओ ॥१४॥

अर्थ—इस भीषण मृत्यु का औषध धर्म है । धर्म एकान्त रूप से विशुद्ध है, महापुरुषों ने इसका सेवन किया है, प्राणी मात्र के लिए हितकारी है, निर्दोष है और परमानन्द का कारण है ।

इस धर्म को नमस्कार हो ।
धर्म प्रकाशकों को नमस्कार हो ॥

धर्म का पालन करने वालों को नमस्कार हो ।
धर्म की प्ररूपणा व्याख्या करने वालों को नमस्कार हो ॥
धर्म अंगीकार करने वालों को नमस्कार हो ॥१३॥

अर्थ—मैं इस धर्म को मन वचन और काय के योगों से अंगीकार करने का अभिलाषी हूं । परमकल्याणकारी अरिहन्त भगवन्तों के प्रभाव से मुझे धर्म प्रतिपादित रूप कल्याण की प्राप्ति हो ॥१४॥

इति [illegible] सूत्रं समाप्त ॥

卐 पंचसूत्र 卐

[तृतीय सूत्र]

प्रव्रज्याग्रहण-विधि

मूल—परिभाविए साहुधम्मे जहोदियगुणे जइज्जा सम्मं मेअं पडिवज्जित्तए अपरोवतावो। परोवतावो हि तप्पडिवत्ति-विग्धं। अणुपाओ खु एसो। न खलु अकुसलारंभओ हिअं।

अप्पडिबुद्धे कहिंचि पडिबोहिज्जा अम्मापियरे-उभयलोगसफलं जीविअं, समुदायकडा कम्मा समुदायफलत्ति एवं सुदीहो अविओगो। अण्णहा एगरुक्खनिवासिसउणतुल्लमेअं। उद्दामो मच्चू, पच्चासण्णो य। दुल्लहं मणुअत्तं समुद्दपडिअरयणलाभतुल्लं। अइप्पभूआ अण्णे भवा दुक्खबहुला मोहंधयारा अकुसलाणुबंधिणो अजुग्गा सुद्धधम्मस्स। जुग्गं च एअं पोअभूअं भवसमुद्दे, जुत्तं सकज्जे निउंजिउं संवरठइअच्छिद्दं नाणकण्णधारं तवपवणजवणं ॥१॥

अर्थ—पूर्व सूत्र मे कथित विधि के अनुसार साधु धर्म की परिभावना से परिभावित होकर और पूर्वोक्त गुण प्राप्त कर लेने के

पंचसूत्र

[तृतीय सूत्र]

प्रव्रज्याग्रहण-विधि

मूल—परिभाविए साहुधम्मे जहोदियगुणे जइज्जा सम्ममेअं पडिवज्जित्तए अपरोवतावो। परोवतावो हि तप्पडिवत्तिविग्घं। अणुपाओ खु एसो। न खलु अकुसलारंभओ हिअं।

अप्पडिबुद्धे कहिंचि पडिबोहिज्जा अम्मापियरे-उभयलोगसफलं जीविअं, समुदायकडा कम्मा समुदायफलत्ति एवं सुदीहो अविओगो। अण्णहा एगरुक्खनिवासिसउणतुल्लमेअं। उद्दामो मच्चू, पच्चासण्णो य। दुल्लहं मणुअत्तं समुद्दपडिअरयणलाभतुल्लं। अइप्पभूआ अण्णे भवा दुक्खबहुला मोहंधयारा अकुसलाणुबंधिणो अजुग्गा सुद्धधम्मस्स। जुग्गं च एअं पोअभूअं भवसमुद्दे, जुत्तं सकज्जे निउंजिउं संवरठइअच्छिद्दं नाणकण्णधारं तवपवणजवणं ॥१॥

अर्थ--पूर्व सूत्र मे कथित विधि के अनुसार साधु धर्म की परिभावना से परिभावित होकर और पूर्वोक्त गुण प्राप्त कर लेने के

पंचसूत्र

[तृतीय सूत्र]

प्रव्रज्या-ग्रहण-विधि

मूल—परिभाविए साहुधम्मे जहोदिअगुणे जइज्जा सम्ममेअं पडिवज्जित्तए अपरोवतावो । परोवतावो हि तप्पडिवत्तिविग्घं । अणुपाओ खु एसो । न खलु अकुसलारंभओ हिअं ।

अप्पडिबुद्धे कहिंचि पडिबोहिज्जा अम्मापियरे-उभयलोगसफलं जीविअं, समुदायकडा कम्मा समुदायफलत्ति एवं सुदीहो अविओगो । अण्णहा एगरूक्खनिवासिसउणतुल्लमेअं । उद्दामो मच्चू, पच्चासण्णो य । दुल्लहं मणुअत्तं समुद्दपडिअरयणलाभतुल्लं । अइप्पभूआ अण्णे भवा दुक्खबहुला मोहंधयारा अकुसलाणुबंधिणो अजुग्गा सुद्धधम्मस्स । जुग्गं च एअं पोअभूअं भवसमुद्दे, जुत्तं सकज्जे निउंजिउं संवरठइअच्छिद्दं नाणकण्णधारं तवपवणजवणं ॥१॥

अर्थ--पूर्व सूत्र मे कथित विधि के अनुसार साधु धर्म की परिभावना से परिभावित होकर और पूर्वोक्त गुण प्राप्त कर लेने के

पंचसूत्र

[तृतीय सूत्र]

प्रव्रज्याग्रहण-विधि

मूल—परिभाविए साहुधम्मे जहोदियगुणे जइज्जा सम्म-मेअं पडिवज्जित्तए अपरोवतावो । परोवतावो हि तप्पडिवत्ति-विग्घं । अणुपाओ खु एसो । न खलु अकुसलारंभओ हिअं ।

अप्पडिबुद्धे कहिंचि पडिबोहिज्जा अम्मापियरे-उभय-लोगसफलं जीविअं, समुदायकडा कम्मा समुदायफलत्ति एवं सुदीहो अविओगो । अण्णहा एक्करुक्खनिवासिसउण-तुल्लमेअं । उद्दामो मच्चू, पच्चासण्णो य । दुल्लहं मणुअत्तं समुद्दपडिअरयणलाभतुल्लं । अइप्पभूआ अण्णे भवा दुक्ख-बहुला मोहंधयारा अकुसलाणुबंधिणो अजुग्गा सुद्धधम्मस्स । जुग्गं च एअं पोअभूअं भवसमुद्दे, जुत्तं सकज्जे निउंजिउं संवरठइअच्छिद्दं नाणकण्णधारं तवपवणजवणं ॥१॥

अर्थ—पूर्व सूत्र मे कथित विधि के अनुसार साधु धर्म की परिभावना से परिभावित होकर और पूर्वोक्त गुण प्राप्त कर लेने के

मूल— [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible]-
[illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । न [illegible] [illegible],
न जरा, न मरणं, न इट्ठविओगो, नाणिट्ठसंजोगो, न छुहा, न पिवासा, न अण्णो कोइ दोसो, सव्वहा अपरतंतं जीवावत्थाणं असुभरागाइरहियं संतं सिवं अव्वाबाहं ति ॥२॥

पवन के वेग से युक्त है। अतः इस मनुष्य भवरूप नौका को धर्म रूप आत्मकार्य में नियुक्त करना चाहिए।

(यहां प्राणातिपात अविरमणादि रूप छिद्रों के ढाकन हैं महाव्रत। श्रुतज्ञान में निरन्तर उपयोग रूप कर्णधार है और अनशनादि द्वादशविध तपश्चर्या का यथाशक्ति सेवन रूप अनुकूल पवन है।) ॥१॥

अर्थ—माता-पिता को यह भी समझावें—ऐसा शुभ अवसर मिलना कठिन है। किसी भी कार्य के साथ इसकी तुलना नहीं हो सकती। यह अवसर सिद्धि के साधक सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र का साधक है। सिद्धि ही विवेकवान् जीवों के लिए उपादेय है क्योंकि उसमें न जन्म है, न जरा है, न मरण है, न इष्ट वियोग है, न अनिष्ट संयोग है, न भूख है, न प्यास है और न कोई दूसरा दोष है। सर्वथा स्वाधीन, समस्त रागादि अशुभ भावों से रहित शांत, शिवस्वरूप और सब प्रकार की बाधा पीडा से रहित है। ऐसी जीवों की वहां अवस्थिति है। [वह अवस्थान क्रोधादि से रहित होने के कारण शांत है, सकल अशिवों के (प्लेग आदि रोगों के) अभाव के कारण शिव है और निष्क्रिय होने के कारण व्याबाधा रहित है।] ॥२॥

[illegible]
[illegible] ॥५॥

[illegible]
है। इस प्रकार की [illegible] और [illegible] लोक में धर्म की [illegible]
जननी होती है। (शासन की उन्नति करती है।)

इतना करने के बाद साधुधर्म को अंगीकार करना चाहिए ॥५॥

अर्थ—यदि माता-पिता आदि स्वजन मोह की प्रबलता आदि के कारण प्रव्रज्या महा धर्म अंगीकार करने की अनुमति न दे तो हृदय से मायारहित होते हुए भी ऊपर से माया का सेवन करके भी अनुमति प्राप्त करे, क्योंकि प्राणी मात्र के लिए धर्म की आराधना

मूल—एवं सुक्कपक्खिए महापुरिसे संसारकंतारपडि
अम्मापिइसंगए धम्मपडिबद्ध निहरिज्जा । तेसिं तत्थ नियम
विणासगे, अपत्तबीजाइपुरिसमेत्तागज्झे. संभवंतसम्मत्ता
ओसहे, मरणाइविवागे, कम्मायंके सिआ । तत्थ से सुक्क
पक्खिए पुरिसे धम्मपडिबंधाओ, एवं समालोचिअ-'विणस्सं
एए अवस्सं सम्मत्ताइओसहविरहेणं, तस्स संपाडणे विभाग
कालसहाणि अ एआणि ववहारओ ।' तहा संठविअ संठवि
इहलोगचिंताए, तेसिं सम्मत्ताइओसहनिमित्तं विसिट्ठगुरुमा

सम्भावना है और यह अभी कुछ समय तक जीवित रह सकते हैं। ऐ
विचार करके वह उनकी औषध के लिए और अपने निर्वाह के लि
अगर उन्हे छोड कर चला जाता है, तो अच्छा ही करता है। मा
पिता का यह त्याग अत्याग है, क्योंकि इसमें उनके जीवन की र
की संभावना है। ऐसे समय उनका त्याग न करना ही वस्तुत. त्याग
क्योंकि त्याग न करने से उनकी मृत्यु होगी और सदा के लिए त्याग
पडेगा। किसी भी प्रवृत्ति का मूल्यांकन उसके फल से होता
धीर-पंडित पुरुष प्रवृत्ति के फल को ही देखते हैं। वह पुरुष औ
लाकर माता पिता को जिला सकता है, अत. उसे ऐसा करना
उचित है ॥७॥

अर्थ—पूर्वोक्त दृष्टान्त का उपसंहार—इसी प्रकार कोई शु
पाक्षिक* महापुरुष संसार रूपी अटवी मे पडा हुआ है
माता-पिता आदि से सगत होने पर भी धर्म के प्रति अनुरागी है

**जिसका भवभ्रमण कम रह गया है अर्द्धपुद्गलपरावर्त्तन से
कुछ कम समय में जो मुक्ति प्राप्त करने वाला है, वह शुक्लपक्षी
कहलाता है ।*

चतुर्थ सूत्र

[प्रव्रज्या - परिपालना]

मूल —स एवमभिपव्वइए समागे सुविहिभावओ किरियाफलेण जुज्जइ। विसुद्धचरणे महासत्ते न विवज्जयमेइ। एअअभावे अभिप्पेअसिद्धी उवायपवित्तिओ। नाविवज्जत्थोऽणुवाए पयट्टइ। उवाओ अ उवेअसाहगो नियमेणं। तस्स तत्तचाओ अपणहा, अइप्पसंगाओ, निच्छयमयमेअं ॥१॥

अर्थ—मुमुक्षु जीव पूर्व सूत्र मे कथित विधि के अनुसार दीक्षा अंगीकार करके, समीचीन विधि-सपादन के कारण क्रिया के फल को प्राप्त करता है। क्योंकि वह क्रिया साधक क्रिया हुई है। विशुद्ध (निरतिचार) चारित्र वाला महात्मा होने से वह मुमुक्षु विपरीतता को प्राप्त नहीं होता अर्थात् उसके ज्ञान और आचार मे किसी प्रकार का विपर्यास नहीं होता। विपरीतता न होने की वजह से सम्यग् उपाय मे प्रवृत्ति होने से वाञ्छित की सिद्धि होती है, जो विपर्यास को प्राप्त नहीं है, वह उपाय को छोड़ कर अनुपाय (उपायाभास) मे प्रवृत्ति नहीं करता। और उपाय (कारण) उपेय (कार्य) का नियम से

मूल—अण्णहा अणिओगो अविहिगहियमंतनाएण। अणाराहणाए न किंचि, तदणारंभाओ धुवं। इत्थ मग्गदेसणाए दुक्खं अवधीरणा अप्पडिवत्ती। नेवमहीअं अहीअं अवगमविरहेणं। न एसा मग्गगामिणो विराहणा अणत्थमुहा, अत्थहेऊ तस्सारंभाओ धुवं। इत्थ मग्गदेसणाए अणभिनिवेसो पडिवत्तिमित्तं किरिआरंभो। एवं पि अहीअं अहीअं अवगमलेसजोगओ। अयं सबीओ निअमेण। मग्गगामिणो खु एसा अवायबहुलस्स। निरवाए जहोदिए सुत्तुत्तकारी हवइ पवयणमाइसंगए पंचसमिए तिगुत्ते ॥३॥

है। ऐसे ही ज्ञान से सम्यक् प्रकार सूत्र का नियोग करता है। यानी उसको व्यवहार में लाता है। सूत्र को इस प्रकार विधिपूर्वक ज्ञात किया ही सम्यग् नियुक्त किया गया ऐसा तीर्थ करादि धीर पुरुषों का शासन है ॥२॥

अर्थ—अन्यथा अर्थात् अविधि से सूत्र का अध्ययन करने से अविधिगृहीत मंत्र के दृष्टान्तानुसार अनियोग (सदुपयोग का अभाव) होता है। अविधि से मंत्र ग्रहण किया जाय तो उन्माद, ग्रहपीड़ा आदि दोष उत्पन्न होते हैं। और बिलकुल आराधना ही न की जाय तो अध्ययन का आरंभ ही न करने के कारण निश्चित है कि कुछ भी शुभ या अशुभ फल की प्राप्ति नहीं होती है। ऐसे अनाराधक के समक्ष अगर तात्त्विक मार्गदेशना की जाय तो क्षुद्र जीव को सिंहनाद की तरह उसे दुःख उत्पन्न होता है। यदि वह कुछ लघुकर्मी हो तो उसे दुःख नहीं होता, किन्तु उस देशना की वह अवगणना अवधीरणा करता है। यदि वह अधिक लघुकर्मी हो तो उसे दुःख भी नहीं होता और उसके द्वारा अवगणना भी नहीं होती है,

मूल—एवं कम्मवाहिगहिए, अणुभूय जम्माइवेअणे, विण्णाया दुक्खरूवेणं, निव्विण्णे तत्तओ, तओ सुगुरुवयणेण अणुट्ठाणाइणा तमवगच्छिय, पुव्वुत्तविहाणओ पवन्ने सुकिरियं पव्वज्जं, निरुद्धपमायायारे असारसुद्धभोई, मुच्चमाणे कम्मवाहिणा, नियत्तमाणिट्ठविओगाइवेअणे, समुवलब्भ चरणारुग्गं, पवड्ढमाणसुहभावे, तल्लाभनिव्वुईए तप्पडिबंधविसेसओ, परीसहोवसग्गभावे वि तत्तसंवेअणाओ, कुसलासयवुड्ढीथिरासयत्तेण, धम्मोवओगाओ सया थिमिए, तेउल्लेस्साए पवड्ढइ। गुरुं च बहुमन्नइ जहोचिअं असंगपडिवत्तीए निसग्गपवित्तिभावेण ॥७॥

पूजादि करके रोग पकाने इत्यादि सत् क्रिया में प्रवृत्त हुआ। अब वह स्वेच्छाचार को त्याग देता है, व्याधि के मुताबिक हलका पथ्य भोजन करता है। तब वह जैसे जैसे व्याधि से मुक्त होता है वैसे वैसे उसकी वेदना दूर होने लगती है। फिर खाज वगैरह पीडा की शान्ति पर से इतना आरोग्य प्राप्त हुआ देखकर उसकी आरोग्य-अभिलाषा बढती चलती है। उसका लाभ होने पर अधिक आरोग्य के विषय में वह आग्रही बन जाने से शिरावेध (नसों को बींधना) और क्षार आदि का योग होने पर भी उसी से व्याधि के उपशम द्वारा आरोग्य की प्राप्ति होगी वैसा वह जानता है। मनोवांछित की प्राप्ति होने से उन शिरावेध आदि में व्याकुलता किये विना, उपचार सम्बन्धी क्रिया के प्रयोग से शारीरिक कष्ट का ख्याल न करके और मन में भी व्यथा का अनुभव न करके, शुभ लेश्या (अध्यवसाय) से बढ़ता ही चला जाता है और वैद्य का बहुमान करता है ॥६॥

अर्थ—पूर्वोक्त दृष्टान्त का उपनय.—इसी प्रकार कर्म रूपी

एसा गुरुई विश्राहिश्रा, भावसारा विसेसओ भगवंतव-हुमाणेणं । 'जो मं पडिमन्नइ से गुरु' ति तदाणा । अन्नहा, किरिश्रा अकिरिश्रा, कुलडानारीकिरिश्रासमा, गरहिश्रा तत्तवेईणं अफलजोगओ । विसण्णतत्तीफलमित्थ नायं । आवट्टे खु तप्फलं, असुहाणुबंधे ॥७॥

ऐसे नि.सङ्ग भाव में गुरु का स्वीकार (प्रतिपत्ति) उसकी सहज प्रवृत्ति बन जाती है। ऐसी गुरु की प्रतिपत्ति बहुत उच्चकोटि की और महत्त्वपूर्ण कही गई है, क्योंकि इसमे कोई लोभादि औदयिक भाव न होने से वह विशेषतया असङ्ग प्रतिपत्ति है, भावप्रधान है, और यह भी कारण है कि उसमे अचिंत्य चिन्तामणि तुल्य भगवान् के प्रति बहुमान (ममत्व) निहित है, क्योंकि भगवान् की ऐसी आज्ञा है कि जो मुझे भाव से स्वीकार करता है, वह गुरु को स्वीकार करता ही है। स्वीकार का तत्त्व इस प्रकार व्यवस्थित है । अन्यथा गुरु को स्वीकार किये बिना या गुरु का बहुमान किये बिना जो प्रतिलेखना आदि क्रिया की जाती है, वह वास्तव मे अक्रिया (असत् क्रिया) है। वह कुलटा नारी की उपवास क्रिया के समान स्वच्छन्द क्रिया होने से तत्त्व ज्ञानियो द्वारा निन्दित है। ऐसी क्रिया निष्फल या इष्ट मोक्ष की अपेक्षा अन्य सांसारिक फल वाली होती है। विष मिश्रित अन्न खाने से होने वाली विपाकदारुण तृप्ति रूप फल के समान वह क्रिया विराधना-सेवन से अनिष्ट एवं तुच्छ फल ही प्रदान करती है। अशुभ कर्म के अनुबंध वाला आवर्त यानी भ्रमण ही उस विराधना स्वरूप विष का फल है ॥७॥

मूल—तओ सुक्के सुक्काभिजाई भवइ। पायं छिण्ण-कम्माणुबंधे खवइ लोगसण्णं। पडिसोअगामी अणुसोअ-निवित्ते, सया सुहजोगे एस जोगी विआहिए। एस आराहगे सामण्णस्स, जहागहिअपइण्णो, सव्वोवहासुद्धे, संधइ सुद्धगं भवं सम्मं अभवसाहगं भोगकिरिया सुरूवाइकप्पं। तओ ता संपुण्णा पाउणइ अविगलहेउभावओ असंकिलिट्ठसुहरूवाओ अपरोवतावियो सुंदरा अणुबंधेणं। न य अण्णा संपुण्णा॥६॥

अर्थ—तत्पश्चात् वह महामुनि 'शुक्ल' अर्थात् अखंड चारित्र वाला, मात्सर्यरहित, कृतज्ञ, शुभ आरंभ वाला और हितपरिणामवान तथा 'शुक्लाभिजात्य' अर्थात् उन अखण्ड चारित्रादि गुणों की प्रधानता वाला हो कर्मानुबंध की छिन्न-सी अवस्था वाला बन जाता है। ऐसा वह भगवद्वचन से प्रतिकूल लोकसंज्ञा को जीत लेता [illegible] संज्ञा यह बहुत भव्य जीवों की प्रवृत्ति पर प्रीति स्वरूप है। [illegible] होने पर वह प्रतिस्रोतगामी हो जाता है और अनु[illegible] [illegible] हो जाता है, अर्थात् लोकाचार स्वरूप नदी प्रवाह का [illegible], समारसिक जीवों का सुलभ संसारवर्धक [illegible] से विमुख हो जाता है। उसके योग सदैव शुभ यानी [illegible] [illegible] से पूर्ण होते हैं। ऐसे साधक को ही भगवान ने [illegible] है। [illegible] संयम का वास्तव में आराधक है और [illegible] [illegible] होने से [illegible] को हुई प्रतिज्ञा [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] ॥ १० ॥

[illegible] नहीं। [illegible] किन्तु [illegible] करने के [illegible] है, [illegible] प्रकार से [illegible] करता है और बिना किसी व्याकुलता [illegible] को प्राप्त करता है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान और [illegible] किया [illegible] जाता है। वह एकान्त निष्कलंक और निष्कलंक अर्थ (मोक्ष) की साधक होती है, क्योंकि वह शुभ अनुबंध वाली होने से उत्तरोत्तर सतत शुभ योग का संपादन करती है।

अर्थ—ऐसी शुभ अनुबन्ध वाली शुभ क्रिया के द्वारा वह परोपकार भावना से कुशल साधु प्रधान परहित का साधन करता है। यह इस प्रकार-प्रधान परार्थ का साधक होने से महान् उदय वाला वह साधक अन्य भव्य जीवों से विविध उपायों से बीज-बीज आदि का न्यास कराता है, अर्थात् सम्यक्त्व की प्राप्ति कराने वाले शासनप्रशंसादि का सपादन अन्यों से करता है वह परहित भी अनुबंध वाला होता है। उससे कर्तृभूत (साधक) सक्रिय वीर्यादि को धारण करता हुआ उस परहित के प्रति सफल प्रयत्न में निरत रहता है। वह सुन्दर आकार वाला होने से समन्तभद्र, शुभ प्रणिधान आदि का हेतु, मोहान्धकार को नष्ट करने के लिए दीपक के समान,

रा

पंचम सूत्र

[प्रव्रज्याफल]

मूल—स एवमभिसिद्धे परमबंभे मंगलालए जम्मजरा-मरणरहिए पहीणासुहे अणुबंधसत्तिवज्जिए संपत्तनिअसरूवे अकिरिए सहावसंठिए अणंतनाणे अणंतदंसणे ॥१॥

मूल—से न सद्दे, न रूवे, न गंधे, न रसे, न फासे, अरूवी सत्ता, अणित्थंत्थसंठाणा, अणंतविरिया, कयकिच्चा, सव्वबाहाविवज्जिआ, सव्वहा निरविक्खा, थिमिआ, पसंता ॥२॥

अर्थ—चौथे सूत्र में प्रव्रज्या के पालन की विधि बतला कर यहा पांचवे सूत्र में उसका फल बतलाते हैं।

वह प्रव्रज्यापालक साधु सुखपरम्परा द्वारा सिद्धि प्राप्त करके अब सदाशिवत्व के कारण परमब्रह्म स्वरूप बन जाता है। गुणोत्कर्ष के कारण मगल के आवास रूप हो जाता है। जन्मादि के कारण न रहने से जन्म जरा और मरण से रहित उनके सर्व अशुभ सदा के लिए नष्ट हो जावे है। अशुभ की अनुबंध शक्ति से भी रहित हो वह अपने शुद्ध आत्म स्वरूप को प्राप्त, गमनादि क्रिया से रहित, स्व-सहज स्वभाव में स्थित, अनन्त ज्ञानवान् और अनन्त दर्शनवान हो जाता है।॥१॥

अर्थ—वह सिद्ध जीव न शब्द है, न रूप है, न गंध है, न रस है,

तत्तं । निच्छयमयमेअं विजोगवं च जोगो त्ति न एस जोगो भिएणं लक्खणमेअस्स । न इत्थाविक्खा । सहावो खु एसो अणंतसुहसहावकप्पो । उवमा इत्थ न विज्जइ । तब्भावेऽणुभवो परं तस्सेव । आणा एसा जिणाणं सव्वएणूणं अवितहा एगंतओ । न वितहत्ते निमित्तं, न चानिमित्तं कज्जं ति । निदंसणमित्तं तु नवरं ॥ ४ ॥

अर्थ—प्र० अगर संयोग ही दुःख का कारण है तो सिद्धों को आकाश के साथ संयोग होने से दुःख क्यों नहीं होता ?

उ०—सिद्ध जीव का आकाश के साथ संयोग नहीं है, क्यों कि सिद्ध अपने स्वरूप में ही स्थित हैं ।

प्र०—सिद्ध आधार के बिना कैसे रह सकते हैं ?

उ०—ऐसा क्यों ? आकाश स्वयं ही दूसरे के आधार बिना रहता ही है न । एक सत्ता दूसरी सत्ता के रूप में परिणत नहीं होती, या न कोई अपने स्वरूप में रहकर अथवा स्वरूप पलट कर किसी अन्य के आधार पर रहता है । यह तत्त्व केवली सर्वज्ञ भगवन्तों से गम्य है, अचिन्त्य है । यह निश्चयनय का मत है । (व्यवहार मत भिन्न है, एक वस्तु दूसरे आधार पर रहती है, तो यहां सिद्धों का आकाश में रहने से संयोग सिद्ध होगा, लेकिन उस संयोग की वियोग शक्ति चीण होने की वजह दुष्टता नहीं है यह सुसङ्गत है ।)

संयोग, वियोगवाला होता है, यह सिद्धान्त से मानना चाहिए कि सिद्ध का आकाश के साथ कभी वियोग न होने के कारण वैसा संयोग नहीं हुआ है । जो संयोग हुआ है उसका लक्षण

[illegible]

इस प्रकार सिद्धों का सुख [illegible] है, और [illegible] में कोई उपमा [illegible] नहीं सकता, जैसे मुनि के सुख को मुनि के सिवाय अन्य कोई नहीं जान सकता [illegible] कि वह विशिष्ट प्रकार के क्षायोपशमिक भाव से ही अनुभवनीय है और [illegible] के सुख को जैसे नहीं जान सकता, [illegible] का सुख [illegible] कैसे जान सके? सिद्धों का सुख [illegible] में अनिर्वचनीय है, क्योंकि वह बुद्धि का विषय ही नहीं है। वह सुख एक सिद्ध की अपेक्षा से सादि अनन्त है अर्थात् उसकी आदि तो है पर अन्त नहीं है, परन्तु प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है। सिद्ध भगवान के विषय में भी यही समझना चाहिए, अर्थात् एक सिद्ध की अपेक्षा आदि है, अन्त नहीं और प्रवाह की अपेक्षा आदि भी नहीं और अन्त भी नहीं है।

प्र०—भव्यत्व तो समान है तब भिन्न २ काल में सिद्धि क्यों?

उ०—प्रत्येक जीव का तथाभव्यत्व भिन्न भिन्न है। कोई जीव कभी और कोई जीव कभी सिद्ध होता है, इसका कारण उस उस

[illegible] पहले तो [illegible] होता है, और [illegible] दिदृक्षा होती है, [illegible] की [illegible] दिदृक्षा [illegible] के [illegible] के समान नहीं है। जब भावी भोग नहीं था तब भी तो दिदृक्षा ही थी, वह तो सदा उपस्थित ही रहे, अतः यह स्वाभाविक होने से महदादि के वियोग के बाद मुक्तावस्था में भी होनी चाहिए। कदाचित् यह कहो कि दिदृक्षा का स्वभाव ही ऐसा है कि वह एकबार महदादि भावों से निर्मित विकार का दर्शन हो गया तब कैवल्य दशा में निवृत्त हो जाती है, लेकिन कैवल्य तो पहले की तरह पीछे भी तुल्य है, तो दिदृक्षा का पहले सद्भाव और बाद में अभाव होने का स्वभाव मानना अप्रमाणिक है; क्योंकि ऐसा मानने पर आत्मा से दिदृक्षा भिन्न सिद्ध होगी। कारण यह है कि वह प्रकृति (महत तत्त्व) निवृत्त होने पर निवृत्त होने से प्रकृति स्वरूप या प्रकृति समान हुई और

---

* सांख्य मत के अनुसार 'मैं एक हूं, बहुत होऊँ', ऐसी दिदृक्षा होती है, तत्पश्चात् शुद्ध आत्मा का प्रकृतिनिष्पन्न महत् (बुद्धि) एवं अहंकार के साथ संबंध होता है और वह संसार को प्राप्त होता है। इस प्रकार महत् आदि के साथ संबंध होने से पूर्व मात्र दिदृक्षा ही होती है।

[illegible]

[illegible] (२) [illegible] कि [illegible]

[illegible] (३) [illegible] जायगा, [illegible] कि [illegible] बिना कारण [illegible] होगा। [illegible] कारण माना गया है, पर [illegible] की [illegible] में पहले कोई सत् [illegible] नहीं। (३) सन्तान उच्छेद रूप मुक्ति मानने पर चरम क्षण किसी का कारण न होने की भी आपत्ति है, [illegible] होने से असत् सिद्ध होगा! क्यों कि जो अर्थ-क्रियाकारी है वही सत् होता है।

कदाचित् कहो कि सन्तान का स्वभाव ही ऐसा है कि आद्य क्षण कारण निरपेक्ष उत्पन्न हो, और चरम क्षण सर्वथा नष्ट हो, सो ठीक नहीं, क्यों कि ऐसी कल्पना करने से चरम क्षण का स्वभाव अवश्य निराधार या निरन्वय सिद्ध होगा। किन्तु यह असंगत है, कारण स्वभाव का अर्थ है अपनी निज की सत्ता। अब उसको निवृत्ति स्वभाव आप कहते हैं, अर्थात् निज की सत्ता निवृत्तिमय हुई, तब चरम क्षण ही निवृत्तिमय, यानी अभाव स्वरूप हुआ, तो आपके द्वारा कल्पित स्वभाव कहा ठहरेगा? वह तो निराधार हो गया। अथवा निवृत्ति स्वभाव निराधारान्वय वाला

अवुच्छेओ भव्वाणं अणंतभावेण । एअमणंताणंतयं । समया इत्थ नायं ।

भव्वत्तं जोग्गयामित्तमेव केसिंचि पडिमाजुग्गदारु-निदंसणेणं । ववहारमयमेअं । एसोऽवि तत्तंगं पवित्तिविसोहणेण अणेगंतसिद्धीओ निच्छयंगभावेण । परिसुद्धो उ केवलं ।

भव्य जीव अनन्त हैं, अतएव (उनमें से अनन्त काल तक भव्यों के मोक्ष जाने और पुनः न लौटने पर भी) उनका सम्पूर्ण उच्छेद नहीं होता है, क्योंकि संसार कभी भव्य जीवों से रिक्त नहीं होता है। [illegible] अनन्तानन्त संख्या [illegible]

न एसा अन्नेसिं देआ। लिंगविवज्जयाओ तप्परिण्णा, तयणुग्गहट्टयाए आमकुंभोदगनासनाएणं, एसा करुण त्ति वुच्चइ। एगंतपरिसुद्धा, अविराहणाफला, तिलोगनाहबहुमाणेणं निस्सेअससाहिगा, त्ति पव्वज्जाफलसुत्तं ॥१०॥

भगवान की आज्ञा दूसरों को-जो अपुनर्बंधक नहीं भवाभिनन्दी हैं उन्हें नहीं देनी चाहिए। उनकी पहचान पूर्वोक्त चिह्न के विपर्यास से हो सकती है। उनके अनुग्रह के लिए अर्थात् उनके हित के लिए ही यह आज्ञा उन्हें देना उचित नहीं। जैसे कच्ची मिट्टी के घड़े में डाला हुवा पानी उस घड़े का ही विनाश कर देता है, उसी प्रकार अपात्र को दिया हुआ आगम उसी का अहितकर्त्ता सिद्ध होता है। अतएव उसे आज्ञा न देना ही उस पर करुणा करना है। यह करुणा उसको आगिक दोषोत्थान रूप अहित से निवारण करने वाली होने से एकान्त शुद्ध है, अविराधना रूप फल देने वाली है और त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवान के बहुमान के कारण उत्पन्न होती है इसलिए मोक्ष साधक है। आगम परिणत हुए हैं उस पुरुष को ही ऐसी करुणा होती है, क्यों कि उस ही का भगवान पर अत्यंत बहुमान होता है।

इस प्रकार प्रव्रज्या का फल निरूपण करने वाला पांचवां सूत्र समाप्त हुआ ॥ १० ॥

॥ पंचसूत्र समाप्त ॥

'दिव्य-दर्शन'

(गुजराती) साप्ताहिक-पत्र

卐

इस पत्र मे सूक्ष्म चितनपूर्ण अति आवश्यक और बढ़िया अग्रलेख एवं मुख्यतया पू० सिद्धान्तमहोदधि आचार्यदेव श्री *विजयप्रेमसूरीश्वरजी* महाराजा के विद्वान शिष्यरत्न पंन्यासजी म० श्री *भानुविजयजी* गणीवर के संवेग-वैराग्यसभ आध्यात्मिक प्रवचन का बहुत सरल रोचक भाषा में अवतरण प्रकाशि होता है। वर्तमान काल मे विषम सयोग वश कई दु खद समस्याए व्यापक जडवाद तथा विलासवाद वश कई दुष्कृत एव भ्रान्त कल्पनाए और असुविधा वश कई चिन्ता-सन्ताप-दुर्ध्यान उच्च मानवजीवन को कर्त्तव्यभ्रष्ट, सुकृतविहीन, दु खग्रस्त एवं भववर्धक कर रहे है आप अगर इनसे बचना चाहते है, तब अवश्य इस पत्र को नियमित पढे। इसमें सुचारु रूप से आपको उच्च तत्त्वदर्शन, शुभ आश्वासन, जीवनविकास की मनोरम चाबिया, सुशोभन जीवन के उत्तम मार्गदर्शन इत्यादि प्राप्त होंगे। वार्षिक शुल्क रु ६)

लिखें.—

दिव्यदर्शन कार्यालय, कालुसीनी पोल, अहमद

या

जेठालाल चुनीलाल घीवाला, २५५ कालबादेवी, बम्बई २

'दिव्य-दर्शन'

(गुजराती) साप्ताहिक-पत्र

卐

इस पत्र में सूक्ष्म चिंतनपूर्ण अति आवश्यक और बढ़िया अग्रलेख पत्र मुख्यतया पू० सिद्धान्तमहोदधि आचार्यदेव श्री *विजयप्रेमसूरीश्वरजी* महाराजा के विद्वान शिष्यरत्न पंन्यासजी म० श्री *भानुविजयजी* गणीवर के संवेग वैराग्यसभर आध्यात्मिक प्रवचन का बहुत सरल रोचक भाषा में अवतरण प्रकाशित होता है। वर्तमान काल में [illegible]

[illegible]

[illegible]